काव्य-निर्णय

भिखारीदास कृत

भूमिका :

डा० सत्येंद्र, एम० ए०

संपादक :

जवाहरलाल चतुर्वेदी

प्रकाशक :

कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स

ज्ञानवापी, वाराणसी

वितरक

बिहार ग्रंथ कुटीर

खजान्ची रोड, पटना–४

तथा—

बम्बई बुकडिपो

१९५/१ हरीसन रोड

कलकत्ता ७

प्रथम संस्करण :

गांधी जयन्ती

१९५६

मूल्य :

पंद्रह रुपया

मुद्रक :

गोविन्ददास माहेश्वरी

सन्मार्ग प्रेस, वाराणसी–१

॥ श्री ॥

संपादक के कुछ शब्द

—०:—

व्रजभापा ग्र'थों का मुद्रण उन्नीसवीं शती के प्रारंभ मे हो गया था। मथुरा, आगरा, जयपुर, दिल्ली, लखनऊ, काशी, पटना, कलकत्ता[१]-आदि से व्रजभाषा के गद्य और पद्य के अनेक ग्रंथ इन स्थानों के शिलायंत्रों (लीथो) में छपकर प्रकाश में आये। यह प्रकाशन का सिलसिला यहीं समाप्त नहीं हुआ—टायप-युग के पूर्वज नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, वेंकटेश्वर प्रेस बंबई, भारत जीवन प्रेस काशी और खड्ग विलास प्रेस पटना (बिहार) इत्यादि ने बड़े उत्साह के साथ व्रजभापा ग्र'थ-प्रकाशन का कार्य निरंतर जारी रखा, जिससे बड़े-बड़े दुर्लभ ग्र'थ-रत्न सुदर रूप मे प्रकाशित हुए। फलतः प्रेस-युग से पूर्व जो व्रजभाषा-काव्य भारतीय जनों का केवल कंठ-हार था, विशिष्ट स्थानों की हस्त-लिखित रूप मंजुल मजूषाओं मे आवद्ध होने के कारण बडी कठिनता से दर्शनों को मिलता था, अब वह प्रायः सभी भारतीय प्रासादों की शोभा बढ़ाने लगा। सच तो यह है कि उन्नीसवी शताब्दी का यह समय व्रजभापा-काव्य-ग्र'थ-प्रकाशन के लिये स्वर्ण-युग था, जिसे भारत के हिंदू-मुसलमान दोनों नागरिकों ने समान उत्कंठा के साथ खुले दिल से सँजोया। टायप-युग का आदि चरण भी व्रजभापा-ग्र'थ-प्रकाशनके लिये वरद सिद्ध हुआ। इस समय अज्ञात-कुलशील पं० कालीचरण[२] से आदि लेकर भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र[३] जिन्हें मधुर व्रजभाषा को और भी मधुर बनाने का, रीति-काल के पंक से निकाल कर पुनःसंस्कार के साथ स्वच्छ रूप देने का श्रेय प्राप्त है, के अतिरिक्त डुमराँउ के नकछेदी तिवारी[४] उपनाम—'अजान कवि, पं० मन्नालाल काशी,[५] बा० रामकृष्ण वर्मा

१ मुवैउल उलूम प्रेस मथुरा, मतवअ ईजाद—मतवअ कृपालाल आगरा, मतवअ ई ईजाद जयपुर, मतवअ इलाही दिल्ली, नवलकिशोर प्रस लखनऊ, वनारस लायट प्रेस काशी, खड्गविलास प्रस पटना, वपतिस्मा प्रेस कलकत्ता आदि। २ प० कालीचरण ने स० १६२० वि० में अयोध्या के राजा मानसिंह उपनाम 'द्विजदेव' की देखरेख में सूरसागर का संपादन कर नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से प्रकाशित कराया था। ३ भारतेंदुजी द्वारा सपादित ग्र थ 'सूरशतक' हमारे देखने में आया है, जो वनारस के लायट प्रेस में स० १८८२ ई० में छपा था। ४. इनके अनेक सपादित ग्र थ भारत जीवन प्रेस काशी से निकले, प्रधान ग्र थ संग्रहात्मक मनोज-मजरी तीन भाग में प्रकाशित हुआ है। ५ प० मन्नालाल संपादित ग्र थ—सु दरी सग्रह, सु दरी सर्वस्व, शृ गार सुधाकर है।

काशी,[१] बा० जगन्नाथदास, 'रत्नाकर,[२] काशी, ला० भगवानदीन उपनाम— 'दीन कवि'[३] मिश्र-बंधु[४] (सुखदेव बिहारी मिश्र, गणेश बिहारी मिश्र, कृष्ण बिहारी मिश्र) लखनऊ, पं कृष्ण बिहारी मिश्र,[५] गँधौली (सीतापुर), बा० ब्रजरत्नदास अग्रवाल काशी,[६] डा० रसाल[७] (रामकृष्ण शुक्ल रसाल) प्रयाग (अब सागर-विश्वविद्यालय) प० नद दुलारेलाल बाजपेयी[८] (सागर-विश्वविद्यालय) पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र[९] काशी, पं० बलदेव प्रसाद मिश्र[१०] प्रयाग और उमाशकर शुक्ल[११] इत्यादि अनेक ज्ञाताज्ञात महानुभावों ने ब्रजभाषा काव्य-ग्र थों के प्रकाशन-सपादन मे स्मरणीय सहयोग दिया जो भुलाया नहीं जा सकता। यह ब्रजभाषा-काव्य-ग्र'थों के प्रकाशन और सपादन का आदि इतिहास है, जो लीथो (शिलायंत्र) युग से चलकर—उत्पन्न होकर, टायप-युग में फल-फूल रहा है। यद्यपि ऊपर निवेदित सपादक शिरोमणियों मे ग्रंथ-सपादन का स्तर जैसा होना चाहिये, वैसा तो नहीं देखा जाता, फिर भी ब्रजभाषा के अनेक कवि-ग्रथों को, पंगु बनाकर ही सही, रक्षा अवश्य की है, यही हमारे लिये सब कुछ है कवि-सचित काव्य-निधियों की रक्षा के रूप मे आप लोगों का मूल्य कम नहीं आँका जा सकता।

ब्रजभाषा मे रीति ग्र'थों के प्रणयन का इतिहास बहुत पुराना है। प्रसिद्ध हिदी-इतिहासकार प० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार उसका प्रारंभ 'सन् १५९८ ई०' माना गया है,[१२] जब कि वह इससे कहीं अधिक दूरवर्त्ती है। नामकरण के साथ तद् समय के ग्र'थ तो अभी नही मिले है, पर उस समय की फुटकल प्राप्त रचनाओं के शब्द-सौष्टव को देखते हुए उसकी समय-विशालता अवश्य-ही माननी पड़ेगी। अठारहवीं शती, जिसे हम भिखारीदास-काल भी कह सकते हैं, तक वह काफी विशाल और प्रौढ़ हो चुकी थी। अमित ग्र'थ-रत्न उद्भव हो चुके

१ वर्माजी ने अत्यधिक ब्रज भाषा ग्र थो का सपादन-प्रकाशन किया है। आपके मुख्य सपादित ग्र'थ—'रसलीन' का रस प्रबोध, सु दरदास का सु दर श्र गार, भिखारीदास का श्र गार-निर्णय, केशवदास प्रभृति के नखसिख सग्रह, पद्माकर का जगतविनोद-आदि के नाम लिये जा सकते ह। २ रत्नाकर-सपादित ग्र थ—सुजानसागर (घनानन्द-विरचित), हमीरहठ (चद्रशेखर), सुजान चरित्र (सूदन) इत्यादि। ३ दीनजी के सपादित ग्र थ—कविप्रिया (केशवदास), रामचन्द्रिका (केशवदास), दोहावली, कवितावली (गो० तुलसी दास), बिहारी सतसई, सूरपच-रत्न आदि ···। ५ हिंदी नवरत्न, देव-ग्र थावली, सुरसुमन-इत्यादि। ४ मतिराम-ग्र थावली। ६ नददास-ग्र थावली, भाषाभूषण (यशवत सिंह), मीरापदावली. . । ७ उद्धव शतक (रत्नाकर)। ८. सूरसागर। ९. भूषण ग्र थावली, घनानद, भावाभूषण पद्माकरपचामृत, बिहारी—इत्यादि। १० अनेकार्थ और नाममजरी (नददास)। ११. नददास। १२. हिंदी साहित्य का इतिहास, स० २००३ सशोधित सस्करण पृ० २३२।

थे। आदि-आचार्य कृपाराम (१५९८ ई०) की 'हिततरंगिणी' या 'शृंगार तरंगिणी' से लेकर व्रजभाषा के अंतिम रीति-काल के कवि नवनीत चतुर्वेदी मथुरा (१९९५ वि०) तक व्रजभाषा का इतना विशाल रीति-शास्त्र प्रणयन हो चुका था कि आज उसका लेखा-जोखा उपस्थित करना सहज नहीं है। इस रीति-रचना-उदधि के सारभूत ग्रंथ रत्न—"रसराज[1] (मतिराम त्रिपाठी—सं० १६७४ वि०), भाषा-भूषण[2] (यशवंतसिंह, जोधपुर के राजा सं० १६८३ वि०) और काव्यनिर्णय[3] (भिखारी दास, सं० १७६० वि०) कहे-सुने जाते हैं।" यह ग्रंथ-त्रयी व्रजभाषा के सिद्ध ग्रंथ हैं, अतएव जिन्होंने भी मन लगाकर इन्हें किसी इनके ज्ञाता से समझ-बूझ लिया वह काव्य के विविध रस, रीति, ध्वनि, व्यंजना, अलंकार, गुण, दोष और दोषों के परिहार-आदि अंग-उपांगोमें निष्णात हो गया। वास्तव में इस ग्रंथत्रयी की निराली विशेषताएँ हैं, जिनके प्रति व्रजभाषा के रससिक्त कविवर विहारीलाल के शब्दों मे कहा जा सकता है :

"देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर।"[4]

अतएव इस रत्नत्रयी के कितने ही छोटे-मोटे संस्करण कितने ही स्थानों से प्रकाशित हुए, फिर भी इनके नये-संस्करणों की चाह बनी हुई है, इससे इसकी विशेष विशेषता के प्रति और क्या कहा जाय। अस्तु कलकत्ते में जब 'पोद्दार-अभिनंदन ग्रंथ' के संपादन-भार से दबा जा रहा था, तब इसके प्रकाशन—संपादन की चर्चा चली और वह यदा-कदा के साथ आगे पल्लवित होती गई, परिणाम सामने है।

ग्रंथ-संपादन-विधि की भी एक छोटी-सी कहानी है। वह उतनी जीर्ण तो नहीं, जितनी कि उसे होना चाहिये, फिर भी पुरानी अवश्य है। संकुचित भी कही जा सकती है, क्योंकि अभी उसने संपन्न रूप धारण नहीं किया है। अतएव इस संपादन-विधि के दो गोत्र—"तदनुकूल अर्थात् ग्रंथ की स्व-भाषा-लेखन—उच्चारण के अनुकूल तथा स्वानुकूल, अर्थात ग्रंथ-संपादक के देश, जाति-अनुकूल कहे जा, सकते है। तदनुकूल (ग्रंथकार की भाषा के अनुकूल) संपादित ग्रंथ संस्कृत को छोड़कर अन्य भाषाओं के हमारे देखने मे अभी तक नहीं आये, पर स्वानुकूल संपादित ग्रंथ अधिकता से यत्र-तत्र बिखरे पड़े हैं। वे अपनी-अपनी भाषा की प्रणाली से—उसके सहज बोधव्य स्वभाव से इतनी दूर जा बसे हैं कि आज वे

१ २ ३. दे०—"हिंदी साहित्य का इतिहास" पं० रामचंद्र शुक्ल, पृ० २५२, २४४, २७७, संशोधित और परिवर्धित संस्करण सं० २००३ वि०।

४ सतसैया के दोहरा, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥

अपने वास्तविक रूप मे नहीं पहिचाने जा सकते। उदाहरण के लिये तुलसी-शशी (गो० तुलसीदास) कृत महान् ग्रंथ 'राम चरितमानस' के विविध संस्करण और आशु संपादित 'सूरसागर' जो व्रजभाषा-सूर्य सूरदास की बे-जोड़ कृति है, के नाम लिये जा सकते हैं। यह सूरसागर काशी की स्वनामधन्य संस्था—नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुआ है और उसके संपादक भी हिंदी के उद्भट विद्वान माने जातेहै। सच तो यह है कि इस संपादन-क्षेत्रमे जो भी विद्द्जन पधारे वे सब अपने-अपने सपादित ग्रंथो की भाषा के देश, जाति, गुण, शील-सयुक्त नहीं थे—वे दूर के रिश्तेदार थे। अतः भाषा की हानि-लाभ से उन्हें कोई संबध न था, अस्तु :

'बोए पेड़ बँमूर के, आम कहाँ ते खाइ।'

पूर्व मैं जैसा कहा गया है कि ग्रथ-संपादन की दो शैलियाँ—तदनुकूल (ग्रंथ-कर्त्तानुकूल) और स्वानुकूल संज्ञा रूप मे कही जा सकती हैं, उसी भाँति लिपि-करण की विधि भी दो प्रकार की देखने मे आती हैं। ये विधि भी दो—"प्रथम 'ग्रंथ-भाषानुकूल' जो अपनी भाषा के मूल उच्चारण ध्वनि के साथ लिपि-करण विधि में भी घुली-मिली रहती है वह, और दूसरी वही स्वानुकूल, जिसे ग्रंथ-लेखक अपनी जाति-देश-संपन्न भाषा को अनजाने मे प्रयोग करता है। इस ग्रंथ-लिपि करण के और भी दो नाम—'पूर्वी विधि और पश्चिमी विधि देखने सुनने में आते हैं। अतएव पूर्वी ग्रंथ-लेखन-पद्धति जहाँ कवि की भाषा को अपने कुल का परित्याग करा विपरीति कुल से संबंध स्थापित कराती हुई उसे दूसरे-ही दुरूह रूप में ढकेल देती है, वहाँ पश्चिमी पद्धति ग्रंथानुकूल, कवि-अनुकूल और तद्भाषा के सहज उच्चारण माधुर्य से ओतप्रोत कर सुंदर मंजुल प्रभा बिखरेती हुई मंथर गति से चलती है। पूर्वी-पद्धति रूप ग्रंथ-भाषा के विकृत करने का उल्लेख डा० धीरेंद्र वर्मा ने अपने 'व्रजभाषा' नामक ग्रंथ में किया है, यथा :

> "स्वर्गीय जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा सपादित बिहारी सतसई का सटीक संस्करण 'बिहारी रत्नाकर' प्राप्त व्रजभाषा ग्रंथों में एक ऐसी रचना है जो अनेक हस्तलिखित पोथियों को सावधानी से देखकर संपादित की गई है। संपादक ने पाठों में एक रूपता ला दी है, यद्यपि प्राचीन हस्त-लिपियों में यह नहीं मिलती। उदाहरण के लिये उन्होंने समस्त अकारांत संज्ञाओं को उकारांत बना दिया है, यद्यपि ऐसे रूप पोथियों में कहीं कहीं ही मिलते हैं। क्योंकि कुछ व्रज-परसर्गों मे अनुनासिकता मिलती है, इसलिए उन्होंने समानता लाने के लिए समस्त परसर्गों को अनुना-

सिक कर दिया है और इस प्रकार हमें सर्वत्र "कौं, सौं, तैं, वैं" ही मिलते हैं। मूल पाठ को बनाए रखने के स्थान पर इस प्रकार उन्होंने अपने संस्करण में एक कृत्रिम समानता ला दी है, जो कदाचित सतसई के मूल-रूप मे वास्तव में विद्यमान न थी।"[१]

स्व० रत्नाकर जी के संपादन-संबंध में कही गई यह टिप्पणी सर्वथा उपयुक्त है, क्योंकि उन्होंने 'विहारी-रत्नाकर' में ही नहीं, सूरसागर में भी शब्द, क्रिया और कारकों में कुछ ऐसी कतरब्योंत की है, जिसे स्वानुकूल तो कह सकते हैं, भाषानुकूल—ग्रंथानुकूल नही। किंतु यहाँ आप (वर्मा जी) ने अपने को और अपने अनुगामी प० नददुलारे लाल वाजपेयी (सागर) को भुला दिया है। आप लोगों ने भी अपने-अपने सपादित व्रजभाषा-ग्रंथों—"अष्टछाप, व्रजभाषा-व्याकरण, व्रजभाषा, सूरसागर-सार, रामचरित मानस, सूरसागर और सूर-सुषुमा" मे वही ऊपर कही गयी बात बडी विशदता में की है, जिसके लिये आज रत्नाकर जी को बदनाम किया जा रहा है। उदाहरण के लिये पेरिस (फ्रांस) मे डाक्टरेट के लिये दिया गया वह निबध है, जो फ्रेंच में—"ला लांग व्रज" और हिन्दी में 'व्रजभाषा' नाम का है। हम यहाँ विपयांतर के कारण उक्त ग्रंथ की भूलें जो आदि से अत तक प्रत्येक पक्ति में भरी पडी हैं, दिखाना नहीं चाहते, अपितु आप-द्वारा उल्लिखित केवल चौबे गनपत खिलंदर के बयान के लिखने की भूलें बतलाना चाहते हैं, जो अकारण उस (चौबे) के सिर थोपी गई हैं। प्रथम पंक्ति यथा :

"एक मथुरा जी चौबे हे जो डिल्ली (दिल्ली) सहैर कौ चले। तो पैले रेल तौ ही नई, पैदल रस्ता ही," इत्यादि ..।

इस पंक्ति में 'जी' 'सहैर कौ' 'पैले' और 'पैदल' शब्द चौबे-जाति के अप्रयुक्त-- उनकी बोल चाल की भाषा से विपरीत प्रयोग है। चौबे – जी के स्थान पर 'के', सहैर कौ के स्थान पर 'सैहैर कों' पैले के स्थान 'पैल्ले' और पैदल के स्थानपर 'पैदर' कहे-बोलेगा, वर्मा जी द्वारा मान्य नही। इस लतीफे में दिये गये दोनों छंद भी अपने से—चतुर्वेद जाति में नित्य प्रति कहने-सुनने से अलग जा पड़े हैं, एक यथा :

"भींजत है तब रीझत है, और घोय धरी सब के मनमानी।
स्वाफी सफाकर, लौंग इलायची घोट कै त्यार करी रसधानी॥
संकर आय बिसंबर नै जब ब्रम्म कमंडल के जल छानी।
गंग से ऊँची तरंग उठै, तब हिदैं में आवत भंग भवानी॥"

१ व्रजभाषा, पृ० २७, ५६ वां प्रकरण।

प्रथम, द्वितीय और तृतीय पंक्तियों के 'हाले दिल' की बाबत तो क्या कहें, जो लौंग, बिसंबर और भ्रम्भ के विष को पान कर मर रही हैं, पर चतुर्थ पंक्ति ही संपादन की मार से अधिक कराह कर कह रही है कि श्रीमान् यह वर्माजी से मुझे बचा कर मेरा असली—प्राकृत रूप समझिये-बूझिये जो इस प्रकार हैः

"गंग ते ऊँची तरंग उठै, जब अंग में आवत भंग भवानी ॥"

अस्तु, यह स्वानुकूल संपादन रूप ब्रजभाषा ग्रंथ संपादन का प्रथम सोपान है। हर दीवार कोठे और महल ऐसे अनेक उदाहरणों से भरे पड़े हैं, जो यदा-कदा नजर मे आकर दिल दुखा जाते हैं।

वास्तव मे 'रत्नाकर' जी के विचार ब्रजभाषा शब्दों के उकारांत बनाने के प्रति तो मान्य नहीं कहे जा सकते, किंतु वर्माजी निर्देशित परसर्गों की अनुनासिकता के प्रति केवल 'वैं' को छोड़कर जिसका प्रयोग रत्नाकर जी ने भूल से भी नही किया है, वे ब्रजभाषा के देश जाति, कुलशील रूप ही कहे जा सकते हैं। यह परसर्गों की अनुनासिक रूप साम्यता लाने की प्रेरणा रत्नाकर जी को पश्चिमी लेख-पद्धति से प्राप्त हुई थी। पूर्वी पद्धति मे इनकी स्थिति स्वानुकूल—भाषा-व्याकरण के अनुकूल नही थी। वे वहाँ कौं के स्थान पर को', सौं के स्थान सो, तैं के स्थान पर तै बनने लगे, जिससे अर्थ की दुर्गमता में पड वे अपने मूल स्थान से च्युत हो गये। शब्दों की कर्ण-मधुर उच्चारण विधि को भी इस पूर्वी लेखन पद्धति ने खूब बिगाड़ा। जो राँम, स्याँम, मोंहन, सोंहन शब्द उस (ब्रजभाषा) के अनुकूल थे, वही श्रुति-कटु रूप में—"राम, स्याम, मोहन, सोहन बन स्वभाषा-सस्कार विहीन-से हो गये, यह निर्विवाद है।

ब्रजभाषा के छह रूप देखने मे आते हैं। इन छह रूपों में प्रथम—"ग्राम्या और नागरी दो रूप कहे-सुने जाते है, अन्य—ब्रजावधी (पूर्व), ब्रजबुंदेली (दक्षिण) जिसे 'ग्वालयरी' भी कहा जाने लगा है, ब्रजराजस्थानी, अर्थात् पिंगल (पश्चिम) तथा ब्रजहरयानी (उत्तर) कहे जाते हैं। अन्यरूपा ब्रजभाषा का क्षेत्र काफी विस्तृत है, जिसमे नागरी-रूप से वह अपनी सहोदरा ग्राम्या के साथ दूर-दूर तक खेली, वहाँ विविध भाषा-वसनों से उसने अपने को सजाया है, किंतु जो सहज देव-दुर्लभ रूप उसका :

"वाचः श्री माथुरीणाम्।"

के निजी परिधान मे विकसित हुआ, वह अन्यत्र नहीं। यह उसका स्वाभाविक वसन था, जिसके आवरण में वह बारहवीं शती से लेकर बीसवी शती तक बड़ी साल-सँभाल के साथ निरंतर सँवारी गयी।

यह ऊपर लिखा विवरण ब्रजभाषा ग्रंथ-लेखन-सपादन-विधि के साथ उसके

शब्द, कारक और क्रियाओं का वह कटु-मधुर इतिहास है जो अभी अपने अंक में विस्तार की आकांक्षा-समोए अर्ध निद्रा में करवट बदल रहा है। विद्वज्जनों को इधर शीघ्र ध्यान देना चाहिये। अस्तु, इन उलझन-भरी समस्याओं के साथ जब "काव्यनिर्णय" संपादन की समस्या को लेकर बैठा तब सर्व प्रथम उसके मुद्रित संस्करणों की ओर ध्यान गया, फलत :

"पं० नकछेदी तिवारी (अजान-कवि) संपादित और वेंकटेश्वर प्रेस बंबई से प्रकाशित सं० १८८० की प्रति, बा० रामकृष्ण वर्मा द्वारा भारत जीवन प्रेस काशी से प्रकाशित सं०—१८६६ की प्रति[१], प० महावीरप्रसाद मालवीय (वीर कवि) संपादित और वेलडवीयर प्रेस प्रयाग से प्रकाशित प्रति और किसी अज्ञात-कुलशीलनामा संपादित तथा गुलशन अहमदी प्रेस प्रतापगढ (अवध) से प्रकाशित स०—१८८७ की प्रति..."

के अतिरिक्त वे हस्त-लिखित पुस्तकें, जिनकी जानकारी कुछ निजी और विशेष "काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित" खोज-विवरणों से प्राप्त की गई, जिसका विवरण इस प्रकार है :

"राज्य पुस्तकालय अमेठी (अवध) सं० १६०४ की प्रति[२]। २, राज्य पुस्तकालय रामनगर (काशी) सं० १८७१ की प्रति, जिसकी बंध संख्या ३१ वी है। ३, राज्य पुस्तकालय प्रतापगढ की प्रति। ४, राज्य-पुस्तकालय सूर्यपुरा की प्रति। ५, बा०ब्रजबहादुर लाल प्रतापगढ़ (अवध) सं० १८०३ की प्रति। ६, बा० रामबहादुर सिह प्रतापगढ (अवध) स० १८०३ की प्रति। ७, राज पुस्तकालय अयोध्या की प्रति। ८, रा० ललिता बकस सिह नीलगाँव सुलतापुर (अवध) सं० १६०५ की प्रति। ९, पं० शिवदत्त बाजपेयी, बडा मोहनलाल गज, लखनऊ सं० १८०३ की प्रति। १०, ठा० गुरुदेव बकस सिह, अहयामडा, पो० गुसाँईंगंज (लखनऊ) की प्रति। ११, प० कृष्ण विहारी मिश्र सिधौली (सीतापु—अवध) सं० १८३३ की प्रति। १२, कुँवर नरहरिदत्त सिंह, संडीला, पो० मछरहटा (सीतापुर अवध) स० १८०६ की प्रति। १३, पं० रामशकर, खरगपुर (गोंड़ा) की प्रति। १४, कन्हैया लाल महापात्र, असनी फतेपुर की प्रति ...इत्यादि।"

१, यह पुस्तक आनरेबुल सर महाराज प्रतापनारायण सिंह बहादुर के० सी० आई० ई० अयोध्या की अनुमति से उनके ही सरस्वती भडार की प्रति तथा राजा राजेश्वरबली प्रसाद सिंह बहादुर सूर्यपुरा की प्रति के आधार पर छपी है।

इन प्रतियों मे चार ही जैसे—"बा० ब्रजबहादुर लाल और बा० रामबहादुर सिंह प्रतापगढ़, पं० शिवदत्त बाजपेयी मोहनलाल गंज लखनऊ तथा कुँवर हरिदत्त सिंह संडीला की प्रतियाँ ही ऐसी थीं जिनमें कुछ लेखन-साम्यता थी, जो अन्यों मे नहीं थी। इनके अतिरिक्त उन मुद्रित संग्रह-ग्रंथों का भी सहारा लेना पड़ा जिनमें दास जी के विविध छंद सुशोभित हैं और जिनके नाम ये हैं :

१. अलंकार मजरी—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, मथुरा। २. अलंकार-रत्न--बा० ब्रजरत्न दास, बनारस। ३. कविता कौमुदी—रामनरेश त्रिपाठी, प्रयाग। ४. काव्य कानन—राजा चक्रधरसिंह, रायगढ़। ५. काव्य प्रभाकर—जगन्नाथ प्रसाद भानु बंबई। ६. छंदार्णव पिंगल-भिखारी दास (मु०)। ७. नखसिख सग्रह मथुरा। ८. नखसिख हजारा—परमानंद सुहाने, लखनऊ। ९. नवीन संग्रह—हफीजुल्लाह खाँ, लखनऊ का छपा। १०. भारती भूषण—अर्जुनदास केड़िया, बनारस। ११. मनोज मजरी भाग—१, २, ३, पं० नकछेदी तिवारी, काशी की छपी। १२. रसकुसुमाकर—दहुआ साहिब अयोध्या। १३. रसमीमांसा—पं० रामचंद्र शुक्ल, काशी की छपी। १४. शृंगार-निर्णय—भिखारीदास काशी का छपा। १५. शृंगार लतिका-सौरभ-द्विजदेव, अयोध्या स० जवाहरलाल चतुर्वेदी,। १६. शृगार-संग्रह—सरदार कवि, लखनऊ का छपा। १७. शृगार सुधारक--प० मन्ना लाल, काशी का छपा। १८. षट्ऋतु हजारा--परमानन्दसुहाने, लखनऊ का छपा। १९. सुंदरी तिलक—भारतेंदु बा० हरिश्चंद्र, बाँकीपुर पटना का छपा। २०. सुंदरी सर्वस्व--प० मन्नालाल, काशी का छपा। २१. सूक्ति सरोवर—ला० भगवान दीन, जबलपुर का छपा। २२. हफीजुल्लाह खाँ का हजारा, लखनऊ का छपा।"

अस्तु, संपादक इन सबका और विशेषकर "सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, अर्जुन दास केडिया, बा० ब्रजरत्नदास एवं डा० नगेंद्र आदि का अत्यधिक ऋणी है, जिनके सहारे इन महानुभावो की मधुर-तिक्त टीका-टिप्पणी करते हुए भी काव्य-निर्णय जैसे दुस्तर महासागर से पार पा सका। अतएव :

"ते सर्वेतु क्षमायाति......।"

ग्रंथ-संपादन के समय कितनी ही ग्रंथ-भाषा सबंधी अड़चने सामने आ जाती हैं, जो स्वाभाविक है। ये अड़चनें—भाषा, शब्दोच्चारण-ध्वनि, क्रिया और कारकों-सबंधी होती हैं। जिसे काव्यनिर्णय की उल्लिखित प्रतियों ने और भी गहन बना दिया था। अतएव दासजी की भाषा के अनुरूप कुछ सिद्धांत स्थिर करने पड़े—उनकी अनुरणन-ध्वनि का सहारा लेना पड़ा। शब्दों, क्रियाओं तथा

कारकों को व्रजभाषानुकूल बनाना उचित समझा गया। उदाहरण के लिये वही पूर्व-लिखित—"राँम, स्याँम, काँन्ह, धुँनि, पुँनि, आँनन, गँन, सँम," के बाद कारकों के रूप 'के, कें, कौ, कों, सों' आदि-आदि निवेदन किये जा सकते हैं। ये व्रजभाषा की प्राण कोमल अनुरणन-ध्वनि के साथ-साथ पश्चिमी लेखन पद्धति के अति अनुकूल और स्वानुभूत प्रयोगों से सन्नद्ध हैं। सचमुच यदि व्रजभाषा के सहज माधुर्य का रसास्वादन किया जा सकता है तो मोहन को मोँहँन, सोहन को सोँहँन, राम को राँम, स्याम को स्याँम की सानुनासिकता उच्चारण विधि के साथ ही किया जा सकता है, क्योंकि यह अनुरणन-ध्वनि व्रजभाषा के अनुकूल है, उसकी प्राण है। हम भाषा-प्रणाली के विपरीत आकारांत शब्द घोडा को घोड़ौ[१] तथा सीता को सीताँ[२] बनाने के पक्षपाती नहीं, अपितु भाषा के माधुर्य-पूर्ण शब्दोच्चारण के अनुकरण रूप शब्द सुसज्जित करने के पक्ष में हैं।

श्री दास जी कृत काव्य-निर्णय की पूर्व से लेकर पर तक के सभी इतिहास-कारों ने मुक्त कंठ से प्रशसा की है, फिर भी आपके अग्रगण्य प्रशंसकों में माननीय स्व० श्रीरामचद्र शुक्ल का नाम लिया जा सकता है[3] और अतिम प्रशसक हैं डा० नगेंद्र[४]। फिर भी अभी तक इस धूल भरे हीरे की परख ठीक रूप से नहीं हो सकी है। आलोचना की ज़िलो बहुत कुछ बाकी है, जिसे इस ग्रंथ की 'भूमिका' रूप में डा० 'सत्येद्र' ने बडी उहापोह के साथ प्रस्तुत की है, अतः हार्दिक धन्यवाद...। वास्तव में वे इसके अधिकारी विद्वान हैं, हम जैसे इधर-उधर से ले भगने वाले नहीं। इसलिये दास जी के प्रति जो भी उन्होंने साधिकार लिखा है, वह उत्तम है, सुदर है और विद्वज्जनों को अनुकरणीय तथा मननीय है।

स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'विहारी सतसई' के भूमिका-भाग मे उसका दोष-परिहार[3] लिखते हुए एक 'शेर' उद्धृत किया है :

"ऐब भी इसका कोई आखिर करो यारो बयाँ।
सुनते-सुनते खूबियाँ जी अपना मतलाने लगा॥"

बात बहुत कुछ सत्य है। अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनना तो सहज है, किंतु ऐब (भूल) बतलाना और वह भी अपना हरे . हरे..., फिर भी इतना तो कहा ही जायगा कि अनेक कवि-कोविदों की विविध सुंदर सूक्तियों के सँजोने में—उन्हें,

१. विहारी, ले०—विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, एम० ए० सं० २००७ वि० का सस्करण पृ० २७७। २ रामचरित मानस, (कल्याण का विशेषाक—मानसाक) स०—नददुलारे वाजपेयी। ३ हिंदी साहित्य का इतिहास—प० रामचद्र शुक्ल, पृ० २७७। ४. हिंदी में रीति-सिद्ध त डा० नगेंद्र, पृ० १५०। ३. विहारी सतसई भूमिका पृ०—१०५।

यत्र-तत्र उद्धृत करने में पुनरुक्ति अवश्य हो गयी है। एक-दो छंद, दो-एक बार आवश्यकता से अधिक तो नहीं, पर उद्धृत अवश्य किये गये हैं। वे वहाँ फिट हैं, उनसे तत्तद् स्थानों की शोभा भी अवश्य बढी है, पर भूल, भूल ही है। इसी प्रकार सांकेति-चिन्हों के बहुली करण के प्रति भी कहा जा सकता है। इनके अतिरिक्त अन्य भूलें विद्वज्जन प्रेक्षणीय और विचारणीय है........।

अंत में पुनः उन ज्ञाताज्ञात स्वनामधन्य ग्रंथ-प्रणेताओं से क्षमा चाहता हूं, जिनके उद्धरणों से,—अछूती सरस सूक्तियों से भली-बुरी आलोचना के साथ सँजोया है तथा संपादित ग्रंथ की शोभा मे चार चाँद लगाये हैं। अत इदं :

"पत्र-पुष्पांजलिस्तेन प्रीयंतां सर्व देवता।"

मथुरा
दान एकादशी
सं० २०१३

—जवाहरलाल चतुर्वेदी,

——

"कवि दास की जीवनी और रचनाएँ"

मध्य कालीन ब्रजभाषा-साहित्य के रीति (लक्षण ग्रंथ-नायिका भेद, अलङ्कारादि) प्रणेताओं मे कविवर 'श्री भिखारीदास' का स्थान ऊँचा ही नहीं, निराला और सुंदर है, यह निर्विवाद है[1] । अस्तु आपके जाति, कुल, ग्रामादि का इतिहास जबतक हिंदी-भाषा के इतिहास ग्रंथों मे उल्लिखित अल्प ग्रंथ-नाम-सूची मे ही निहित रहा, तब तक वह अंधकार से आवृत्त रहा और ज्यों-ज्यों वह आपकी नयी नयी रचनाओं के साथ खोज और प्राप्ति के बाद प्रकाशन के खुले क्षेत्र मे आने लगा त्यों-त्यों आपका जीवन से संनद्ध इतिहास स्वच्छ होकर द्वितीया के चंद्र की भाँति निरंतर प्रकाशवान होता गया । अतएव अब कविवर 'भिखारीदास' उपनाम-'दास' के जाति, कुल और ग्रामादिका उल्लेख तथ्य रूप से नि संकोच और वह भी आपके-ही शब्दों मे, कहा जा सकता है कि श्री भिखारी दास जी—"जाति के बहीवार वर्ण के कायस्थ, पिता कृपालदास, पितामह वीरभानु प्रपितामह रामदास, भाई चैनलाल, जन्म-स्थान टोंग्या (टेंउगा), अरवर प्रदेश के निवासी थे, जो प्रतापगड (अवध) से तनिक दूर है, यथा

"अभिलाषा करी सदा ऐसन का होय बृत्थ,
सब ठौर दिन सब याही सेवा चरचॉन ।
लोभा लई नीचें ग्यॉन चलाचल ही कौ अंसु,
अत है क्रिया पातल निंदा-रस-ही कौ खॉन ॥
सेनापती देवीकेर प्रभा गॅनती कौ भूप,
पन्ना, मोंती, हीरा, हेम सौदा हास ही कौ जॉन ।
हीय पर जीब पर बदे जस रटे नाऊँ,
खगासन, नगधर, सीतानाथ कौल पॉन ॥"

यह विवरणात्मक छंद (कवित्त) 'काव्य-निर्णय' के उन्नीसवे उल्लास मे 'चित्रालंकारों के साथ प्रस्तुत पुस्तक के पृ० ६१६ पर और 'छंदार्णव' (पिंगल) के आदि मे मिलता है । विवरण चित्रात्मक है, जिसे कठिनता से एक-एक अक्षर क्रमश बाद देकर दूसरे दूसरे अक्षर पढ़ने से जाना जाता है। इसलिये दासजी ने इस छंद की गूढ़ता-निवारणार्थ – अपने जाति, कुल, ग्राम और पिता-पितामह के नामादि की शीघ्र जानकारी के लिये इसके साथ एक

१, शिवसिंह-सरोज, पृ० ४११ । हस्त-लिखित 'हिंदी' पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, श्यामसुंदरदास, पृ० १११ । हिन्दी काव्य-शास्त्र का इतिहास डा० भगीरथ मिश्र, पृ० १४१ ।

'दोहा तिलक (टीका) रूप में और दिया है, जिससे छंद-प्रयुक्त जीवन की इत्तवृत्तरूपी गुत्थी सहज ही खुल जाय—स्फुट हो जाय, वह दोहा इस प्रकार है :

"या कवित्त अतर वरॅन, लै तुकत ह्वै छंड।
दास-नाम, कुल-ग्राम कहि, राम-भगति रस-मड ||"

इस कुंजी-रूप दोहे से प्रथम जो जीवन वृत्त-ज्ञापक छंद ऊपर दिया गया है, उसमें 'यरबर' देशज नाम आया है ! वह देशज संज्ञा 'अरबर' का चित्रालकार के अनुरूप रूपातर है और कुछ नहीं, फिर भी हिंदी इतिहासकारों को उसने खूब छकाया है। फलत· किसीने आप (भिखारीदास) को बुदेलखंडी, किसी ने बघेलखंड़ी और किसी ने कहीं अज्ञात ग्राम का मान लिया। खैर हुई कि किसी महानुभाव ने इस रूपातर रूप देशज शब्द 'अरबर' के सहारे 'अरब' का नहीं मान लिया, यदि मान लेते तो ब्रजभाषा के विस्तार का एक नया विस्तृत पृष्ठ खुल जाता..। अत~व यह सब—जाति-कुल ग्राम की जानकारी होते हुए भी अभी आपका जन्म-समय विवाद-ग्रस्त ही है, जिसे कोई सं० १७५५ वि०-१, कोई स० १७६० वि०-२ और कोई सं० १७६१ वि०-३ या सं० १७६६ वि० के आस-पास मानते हैं। पिछले, अर्थात् सं० १७६१ तथा १७६६ जन्म-संवत उपयुक्त ज्ञात नहीं होते, कारण सं० १७६१ वि० मे आपने "रस-साराश" की रचना की थी, यथा :

"सत्रह सै इक्याँनमे, नभ सुदि छठ बुधवार।
अरबर देम प्रतापगढ, भयौ ग्रंथ औतार ॥"

—रस-सारांस पृ० १३०,

इसी प्रकार आपका द्वितीय जन्म-समय सूचित करने वाला सं०१७६६ वि० भी गलत ठहरता है, चूँकि इस समय (संवत्) मे आपने "छंदार्णव" (पिंगल) की रचना की थी, जैसा कि उक्त ग्रंथ की पुष्पिका से ज्ञात होता है, यथा :

"सत्रह सौ निन्याँन मे, मधु बदि नव इक बिदु।
'दास' कियौ 'छंदारनौ' सुमिरि साँमरौ इंदु ॥"

—छदार्णव (पिगल) पृ० १२२,

अतएव ये दोनो जन्म-संवत् अप्रमाणिक हैं। हाँ, पूर्व लिखित सं० १७५५ या ६० वि० जन्म-समय के सूचक हो सकते हैं, किंतु पक्के प्रमाण के रूप मे कुछ नही कहा जा सकता।

१. मिश्रबधु-विनोद, पृ० ६३२ (द्वितीय भाग)। २. आचार्य भिखारीदास—ले०डा० नारायणदास खन्ना एम० ए०, पृ० २५, (जीवन-वृत्त)। ३. हस्त लिखित हिंदी पुस्तकों का सक्षिप्त विवरण, सं०—बा० श्यामसुंदरदास, पृ० १११।